भारतपर ईसाइयत का आक्रमण

और

उसके प्रतिकार का प्रयत्न

श्री रामधारी सिंह दिनकर लिखित
'संस्कृति के चार अध्याय' पुस्तक से संकलित

प्रकाशकः-प्रधान यूकरिसिक कांग्रेस विरोधी नागरिक
समिति, बम्बई।

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक, श्री रामधारी सिंह दिनकर की लिखी 'संस्कृतिके चार अध्याय,' नामक पुस्तक से संकलित की गई है। इस पुस्तक की भूमिका स्वनामधन्य स्वर्गीय श्री पंडित नेहरूजी ने लिखी थी।

इस पुस्तक में यह दिखानेका प्रयत्न किया गया है कि ईसाइयत का भारत में आगमन कब और कैसे हुआ। ईसाइयतका भारतमें कैसा स्वागत हुआ, ईसाइयत अपनी ओर भारतवासियों को आकृष्ट करने में क्यों सफल नहीं हुई। एक ईसाई बना हुआ भारतीय किस प्रकार अपनी संस्कृति तथा राष्ट्रीयता को भी खो देता है इत्यादि।

ईसाई पादरियोंने राज्याश्रय पाकर किस प्रकार ईसाई मत फैलाने के लिये क्या क्या प्रयत्न किये और उसका क्या भयंकर परिणाम निकला जिसके प्रतिकार हेतु देशमें कई सुधारकोंने जन्म लिया और हिन्दुत्वकी रक्षा के लिये प्रयास प्रारंभ किया। राजाराम मोहनराय के ब्राह्मोसमाज तथा स्वामी दयानन्दजी के आर्यसमाज का जन्म इसी प्राचीन हिन्दू धर्म की रक्षा अर्थ हुआ। ईसाइयत की इस वाढ़को रोकने में स्वामी दयानन्द तथा आर्य समाजने जो प्रशंसनीय कार्य किया है उस पर भी विशद प्रकाश डाला गया है।

आज जबकि ईसाई धर्मप्रचारक, अपनी करोडों रुपयों की थैलियें खोलकर, भारतीय जनताको धर्म विमुख करने के लिये एड़ी चोटी का जोर लगा रहे हैं, यह पुस्तक उनके काले कारनामों तथा दूषित इरादों का ज्ञान कराने में अवश्य सहायक होगी।

सम्पादक

भारत में ईसाइयत का प्रसार और उसका प्रतिकार

भारत में ईसाइमतका आगमन :

२८ मई सन् १४९८ का दिन सचमुच भारतके लिए एक बड़ा ही अशुभ दिन था। इसी दिन पुर्तगालका एक नाविक "वास्कोडिगामा" भारतमें प्रविष्ट हुआ था। इसी दिन कालीकटमें समुद्र किनारे उसकी नाव आकर लगी थी। कालिकटके राजा जमोरिनने वास्कोडिगामासे जब यह पूछ कि "कैसे आये हो?" तब उसने कहा, 'ईसाई मतके प्रचारके लिए और मसालोंकी खोजमें।' कालीकटका राजा वास्कोडिगामासे मिलकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने पुर्तगालके राजाको पत्र लिखा कि अबसे हम और तुम मित्र हुए। हम दोनोंके देशोंके बीच खुलकर व्यापार चलना चाहिए, लेकिन पुर्तगालके राजाने, जवाबमें कालीकटको अपना उपनिवेश मान लिया और यह हुक्म देकर पुर्तगालसे एक बड़ा–सा बेड़ा भारत भेज दिया कि उस देशमें ईसाई मत का प्रचार करो और जहां जरूरत हो, वहां युद्ध भी।

धीरे--धीरे पुर्तगालियोंने अपने पैर फैलाने शुरू किये। गुजरातके सुलतान महमूद बेगड़ासे उनकी समुद्रमें कई लड़ाईयां हुई पर उसे कोई लाभ न हुआ और पुर्तगाली लोग गोवामें अपना किला बनानेमें (सन् १५१० ई.) सफल हो गये।

पुर्तगालियोंको यह विजय इसलिए प्राप्त हुई कि पुर्तगाली मनमें मुसलमानोंके द्रोही बनकर आये थे। इसलिए हिन्दुओंने उनका पूरी

तरह स्वागत किया। जब पुर्तगाली लोग मलायामें पहुंचे तो, उन दिनों इस्लाम वहां नया नया ही पहुंचा था। हिन्दुत्व तथा इस्लाममें संघर्ष चला रहा था। पुर्तगालियोंने इससे पूरा लाभ उठाया। मलायामें अपने आदमियोंको प्रोत्साहित करते हुए अलबूकर्कने कहा, "हमें मलायामें परमात्माकी बड़ी सेवा करनी है। हमें (मूरों) मुसलमानोंको निकालकर इस देशसे बाहर फेंक देना है और मुहम्मद के सम्प्रदायकी आगको इस तरह बुझा देना है कि वह यहां फिर न जले।"

यूरोपमें इस्लाम और ईसाइयतके बीच दुश्मनी थी, इसलिए, पुर्तगालियोंने यहां भी मुसलमानोंके प्रति दुश्मनीका भाव बनाये रखा। किन्तु हिन्दुओंके भी वे मित्र नहीं हुए। सन् १५४५ में गोवाके गवर्नरने कहा था कि इस देशमें हम एक हाथमें क्रास (ईसाइयोंका धर्म चिन्ह) और दूसरेमें तलवार लिए हुए आये हैं। पुर्तगालवालोंका यह बर्बर अहंकार (आज भी गोवाके वाइसरायगेटपर मूर्तिमान हैं, जहां एक पुर्तगाली साधु एक भारतवासी की छातीपर खड़ा होकर तलवारसे भारतवर्षकी ओर इशारा कर रहा है।

पुर्तगाली गवर्नर अलबूकर्क (१५०९ से १५१५ ई. तक) कुछ भला आदमी जरूर था, किन्तु वह पुर्तगाली अन्यायका अवरोध न कर सका। पुर्तगाली राज्य स्वेच्छाचारियोंका राज्य था एवं हिन्दू और मुसलमानोंके सामने उन्होंने इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं छोड़ा था कि चाहे तो वे क्रिस्तान हो जायं, अथवा पुर्तगाल के गुलाम बनकर अपनी जिन्दगी बितायें। भारतवासियोंकी बहू–बेटियोंपर गोरे जुल्म तो करते ही थे, किन्तु यदि कोई गृहस्थ उनपर हाथ उठाता तो बिना किसी जांच–पड़तालके उसके हाथ काट लिए जाते थे। सन् १५६० ई. में पुर्तगालियोंनें अपने कब्जेके नगरों और गांवोंमें इनक्विजिशनकी प्रथा जारी की, जिसके अनुसार, पुर्तगाल या ईसाइयतकी हल्की–सी आलोचना करनेवाला व्यक्ति भी गिरफ्तार कर लिया जाता था और उसे क्रूरसे क्रूर सजायें दी जाती थीं। यही नहीं, ऐसे व्यक्तियोंको वे पुर्तगाल भेज देते थे, जहां उनकी किस्मतोंका आखिरी फैसला इनक्विजिटर

जनरलके हाथों होता था। किस्मतका आखिरी फैसला यह था कि अपराधी जीवित ही आगमें झोंककर जला दिया जाय।

ईसाइयतका आगमन भारतके दक्षिणी तटपर दूसरी या तीसरी सदीमें ही हो चुका था, किन्तु उसके प्रति भारतवासियोंको कोई द्वेष नहीं था। पुर्तगालियोनें ईसाइयतको जिस रूपमें उपस्थित किया, उससे भारतवासियोंको इस धर्मके प्रति भयंकर घृणा हो गयी और अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक पुर्तगालके अधिकारमें जो बस्तियां थीं, बहुतसे लोग उन्हें छोड़कर अन्यत्र भाग गये।

"माडर्न इण्डिया एण्ड दी वेस्ट" में मनूची नामक युरोपीय यात्रीका यह मत उद्धृत है कि चटगाँवके पास पुर्तगालियोंने ऐसे–ऐसे जुल्म किये कि उन्हें देखकर ग्लानिसे मस्तक झुक जाता है। आदमीको गुलाम बनाकर बेचनेकी उन्हें चाट लग गयी थी। औरत, मर्द और बच्चे–यहां तक कि दूध पीते बच्चोंको भी वे माँ की छातीसे छीनकर बाजारमें बेच देते थे। मनूची लिखता है कि "ऐसे लोगोंको ईसाई तो क्या, मनुष्य कहना भी गुनाह है।"

आखिर शाहजहांको एक बार क्रोध आया और उसने बंगालमें दस हजार पुर्तगालियोंको कतल करवा डाला और पांच हजारको जेलोंमें बन्द कर दिया। सन् १९६२ में हुगलीमें और बंगालमें पुर्तगालियोंका ऐसा दमन हुआ कि वे बंगालमें फिर कभी मस्तक नहीं उठा सके।

पुर्तगाली पादरियोंके व्यवहारसे लोगोंके मनमें ईसाइयतके प्रति जबर्दस्त घृणा पैदा हो गयी। ईसाइयतसे उन्हें चिढ़–सी हो गयी। डेरी नामक एक अंग्रेजने जब कुछ हिन्दुओंसे ईसाई हो जानेको कहा, तब वे लोग बोल उठे, "ईसाई लोग बुरे होते हैं, वे शराब पीते हैं: दूसरोंको बेइज्जत करते और गालियां देते हैं।" एक दूसरे पादरीसे किसी हिन्दू दुकानदारने कहा था–"क्या मैं भी ईसाई हूं कि तुम्हें धोखा दूंगा?"

इसी कारण ईसाई धर्मका प्रचार पूरी तरह न हो पाया। पुर्तगाली मिशनके प्रधान, फ्रांसिस जेवियरने काफी दिनों तक प्रयास किया, किन्तु जब उसे धर्म बदलनेवाले लोग यहां नहीं मिले, तो वह यह कहकर जापान चला गया कि "इस देशमें तो ईसाकी शरणमें जानेके उपदेशको लोग मृत्युकी शरणमें जानेका उपदेश मानते हैं।"

प्रचार विधिमें परिवर्तन :

जब ईसाई पादरियोंने इस तरह दाल गलती नहीं देखी तो आजिज आकर हिन्दुत्वकी सीधी राह पकड़ी। उन्होंने अत्यन्त सरल और साधुओंका सा जीवन बितानेके निमित्त ब्राह्मणोंका बाना धारण किया। वे छुआछूतको मानने लगे और जाति की प्रथाका भी पालन करने लगे। अचरज यह है कि ऐसा करनेकी अनुमति उन्हें खुद पोपने ही दी थी। इस आडम्बरसे ईसाइयतका प्रचार तो कुछ बढ़ा, किन्तु वह स्थायी नहीं रहा। इसलिए १७५९ में पोप ने इस नकली प्रथाको बन्द कर दिया।

ईसाइयोंने बहुत शीघ्र धर्म प्रचारके लिए स्कूल तथा विद्यालय खोलने शुरू कर दिये और वे यहां की भाषाएं सीखकर ईसाइयतका साहित्य भी देशमें फैलाने लगे। बाइबिलका अनुवाद तामिलमें किया। टामस सेफेंसने जो १५७९ में गोवामें आया था, कोंकणी भाषामें एक ईसा-पुराण लिखा।

भारतमें अंग्रेजी राज्य :

अंग्रेज यहां व्यापार करनेके उद्देश्यसे प्रेरित होकर ही आये थे। हुकूमत करना उनका उद्देश्य नहीं था। हुकूमत वे इसलिए कर रहे थे कि इससे उनकी तिजारतको फायदा था। जब तिजारतको फायदा नहीं रहा वे हुकूमत छोड़कर चले गये। अंग्रेजोंने अपने व्यापारके लिए जगह जगह कोठियां बनायीं। व्यापार करनेके लिए उन्हें खुद फौज भी रखनी पड़ी। यही व्यापार के केन्द्र बढ़ते बढ़ते राज्य बन गये। इसका

सबसे बड़ा कारण यह था कि यहां राज व्यवस्था कड़ी नहीं थी। देश सैकड़ों छोटे-मोटे राज्योंमें बंटा हुआ था। केन्द्रीय राजसत्ता कमजोर थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके कर्मचारी पहले भारतवासियोंको अंग्रेजी पढ़ाना पसन्द न करते थे फिर भी अंग्रेजोंके भारतमें आ जानेसे अंग्रेजी भाषा थोड़े बहुत पांव फैलाने लगी थी। इस काममें सबसे बड़े सहायक कुछ अंग्रेज कर्मचारी तथा मुख्यतया ईसाई धर्म प्रचारक थे। कम्पनीके कुछ कर्मचारी भारतवासियोंको अंग्रेजी सिखाना इसलिए चाहते थे कि उनके काममें आसानी हो। ईसाई धर्म प्रचारक इसलिए कि अंग्रेजी पढ़ा हुआ व्यक्ति आसानीसे क्रिस्तान बनाया जा सकता था। भारतीय अमीर इस भावसे प्रेरित होकर अंग्रेजी पढ़ते थे कि अंग्रेजी पढ़ेलिखे बाबुओंका अंग्रेजोंके यहां सम्मान था। प्रारम्भिक अंग्रेज इस देशमें अपना राज्य तो जमाना चाहते थे पर अपनी सभ्यता फैलाना नहीं।

पर ईसाई प्रचारक यह अनुभव कर रहे थे कि अंग्रेजी पढ़ा-लिखा बाबू धर्मसे विमुख और ईसाई शीघ्र बनाया जा सकता है। अंग्रेजोंके सम्पर्कके बाद भारतमें जो पहले मेघावी गणितज्ञ निकले उनका नाम रामचन्द्र था। वे दिल्लीमें रहते थे। किन्तु क्रिस्तान थे। सुप्रसिद्ध कवियित्री तोरूदत्त क्रिस्तान थीं, उनके पिता गोविन्दचन्द्र दत्त भी क्रिस्तान थे। बंगालमें अंग्रेजीके जो पहले विद्वान हुए उनका नाम साहबचन्द्र बनर्जी था। वे क्रिस्तान थे और माइकेल मधुसूदन दत्तके धर्मपरिवर्तनकी बात तो प्रसिद्ध ही है। इससे प्रोत्साहित होकर ईसाई धर्मप्रचारक भारतीयोंको अंग्रेजी पढ़ानेके पक्षमें आ गयें थे, परन्तु ठीक इसी कारणसे कम्पनीके डायरेक्टर डरते भी थे। पुर्तगालियोंने भारतमें ईसाइयतका प्रचार करके जो बदनामी हासिल की थी, वह अंग्रेजोंके लिए सबक हो गया था। वे इस गलतीको दोहराना नहीं चाहते थे। १८०८ में डायरेक्टरोंनें कम्पनीको सुनिश्चित आदेश देदिया था कि भारतीयोंके धर्ममें हस्तक्षेप बिल्कुल नहीं किया जाना चाहिए। फिर भी ये ईसाई धर्म-प्रचारक बाज नहीं आये और वे ईसाइयतका प्रचार करते ही गये। शुरू शुरूमें अंग्रेजोंने जो शिक्षणालय

अम्बार हैं और यज्ञोपवीत, चन्दन., कन्ठी, माला और शिखा ये फालतू और व्यर्थकी चीजें हैं। जो नौजवान कुछ अधिक जोशीले थे, उन्होंने कसकर मदिरा-पान करना आरम्भ किया और अपने पिता, चाचा और बन्धुबान्धवोंको वे यह दिखलाने लगे कि हम तुमसे सर्वथा भिन्न हैं। इससे भी अधिक उन्मत्त नवयुवक बीसियों प्रकारसे अपने बाप-दादोंको चिढ़ाने लगे और मन्दिरोंमें गोमांस अथवा गायकी हड्डी फेंक देना आम बात हो गई।

धोबीके कुत्ते घरके न घाटके :

पाठ्यक्रममें धर्मका स्थान नहीं रहनेके कारण इन्हें अपने धर्मसे तनिक भी परिचय नहीं था। संस्कृत भाषासे वे सर्वथा अनभिज्ञ थे, यदि संस्कृत वे पढ़ते भी थे, तो काव्य और नाटकके लिये। अपने धर्मकी ये निन्दा भी काफी सुन चुके थे। परिणाम यह हुआ की धर्मके मामलेमें, वे बिल्कुल शून्यमें जा लटके। ये लोग अपनेको मुक्त चिन्तक Free Thinkness कहते थे विचारोंसे वे अंग्रेजोंकी सन्तान हो गये थे, किन्तु सामाजिक दृष्टिसे वे किसी भी समाजके सदस्य नहीं थे। अपने ही घरमें वे विदेशी, थे, अपने गाँवमें उनका कोई आत्मीय नहीं था। ये ठीक उसी प्रकारके भारतीय थे, जिनकी कल्पना मैकालेने की थी—तनसे काले (भारतीय), किन्तु, मनसे गोरे (अंग्रेज)। ये ही वे शिक्षित युवक थे, जिन्हें देखकर शासकों और धर्म प्रचारकोंको यह आशा हो चली थी कि भारतवासियों को क्रिस्तान बनानेके लिए किसी विशेष आयोजनकी आवश्यकता नहीं है, केवल अंग्रेजी पढ़ाना काफी होगा।

इनकी वाणी, इनके विचार और इनके व्यवहारसे सारा हिन्दू समाज दुःखी हो उठा और वे हिन्दुत्वके सबसे बड़े शत्रु माने जाने लगे।

(P. Percival) ने अपनी 'लेंड आव दी वेदाज' नामक पुस्तकमें तत्कालीन एक समाचार-पत्रका उद्धरण दिया है, जिसमें संपादकने कहा था कि "क्या हिन्दू-कालेजमें एक नये ढंगके मनुष्योंकी नींव नहीं

रखी जा रही है ? हिन्दू कालेजसे समाजकी धार्मिक भावनाओंको जैसी गहरी ठेस पहुंची है, क्या उसका शतांश भी मिशनरियोंके आन्दोलनसे पहुंची थी ?"

ईसाई धर्ममें प्रवेशका लाभ :

इन मुक्त चिन्तकों (free thinkers) ने जब हिन्दू-धर्ममें अपनी जगह छोड़ दी तब वे क्रिस्तान भी होने लगे। किन्तु धर्म-परिवर्तन वे इसलिए, नहीं करते थे कि ईश्वरमें उनका अटल विश्वास था अथवा आत्मिक शान्तिकी उनमें प्यास थी। अक्सर, धर्म-परिवर्तनका उद्देश्य सामाजिक सुविधा होती थी। बहुतोंने इसलिये भी धर्म छोड़ा कि हिन्दू-समाजमें जातिकी कड़ी प्रथा और परदेका रिवाज था। इन दोनों नियन्त्रणोंके रहते हुए, प्रेमकी लीला मनोवांछित ढंगसे नहीं चल सकती थी।

पेट की खातिर धर्म–परिवर्तन :

एक बार प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त (जो क्रिश्चियन हो गये थे) किसी कामसे दक्षिणेश्वर आये थे। वे अपने कामको समाप्त करके श्रीराम कृष्णसे भेंट करने गये। शास्त्रीजी (नारायणशास्त्री) उस समय वहीं थे। शास्त्रीजीने माइकेलसे ख्रिस्ती-धर्म स्वीकार करनेका कारण पूछा। माइकेल बोले, "मैंने पेटके लिये ऐसा किया।" इस उत्तरको सुनकर शास्त्रीजी क्रोधमें आकर बोल उठे, "क्या इस क्षण-भंगुर संसारमें पेटकी खन्दकको भरनेके लिए अपने स्वधर्मका त्याग किया ? धिक्कार है ऐसे मनुष्यको। एक दिन मरना तो है ही। यदि अपने धर्ममें रहते हुए ही आप मर जाते तो क्या संसार सूना हो जाता ? "माइकेलके चले जानेपर शास्त्रीजीने श्री रामकृष्णके दरवाजेपर कोयलेसे लिख दिया "पेटके लिए स्वधर्म त्यागनेवालोंको धिक्कार है।" पर वास्तविक बात यह है कि माइकेलने भी धर्म-परिवर्तन पेटके कारण अधिक नहीं, अपितु, प्रेमके कारण किया था। यूरोपीय रोमाण्टिक कविताएं और कहानियां तथा नाटक पढ़कर युवकोंमें उद्दाम प्रेमकी तृष्णा जागी

और उसकी तृप्तिकी राह हिन्दू समाजमें अवरुद्ध देखकर, उनमेंसे कितने ही लोग ईसाई हो गये। दिमागमें स्वतंत्र विचारोंके तूफान और दिलमें जवानीकी रंगीन उमंगे, निदान, कई युवकोंने प्रेमके कारण भी अपने धर्मका परित्याग किया।

ईसाइयतके प्रति घृणा भाव :

पुर्तगालियोंके पहले, ईसाई धर्मका भारतमें यथेष्ट आदर था। दक्षिणके हिन्दू राजे गिरजाघरोंकी भी सेवा उसी प्रकार करते थे जैसे हिन्दू मन्दिरोंकी। गिरजाघरोंके लिए भूमिका दान भी दिया जाता था और ईसाई सन्तोंकी सुविधा और सत्कारके लिए भी दान दिये जाते थे, यह प्रामाणिक बात है। इसका कारण यह था कि पुर्तगालियोंसे पूर्व जो ईसाई-प्रचारक यहां आये वे एशियाई थे। उनके ईसाई धर्ममें भी त्याग, संन्यास और साधनाका वही महत्व था जो भारतीय अथवा एशियाई धर्मोंका लक्षण था।

ईसाइयत का यूरोपीय एडीशन :

पर जब ईसाइयत यूरोप पहुंची, उसके रूप रंग बदल गये। वह भौतिकताके बहुत समीप आ गयी। अतएव, ईसाई धर्मके दो रूप देखनेमें आये। एक तो वह जो एशियाई और मौलिक था। दूसरा वह जो यूरोपीय और सांसारिकताके बहुत समीप था। भारत में ईसाइयतके इन दोनों रूपोंका आगमन हुआ। एशियाई रूप तो शायद ईसाके दो-तीन सौ साल बाद ही, पहुंच गया था। भारतके ये ईसाई, सीरियन ईसाई कहलाते थे क्योंकि अपना धर्म उन्होंने सीरियासे लिया था। किन्तु, ईसाइयत का यूरोपीय रूप भारतमें पुर्तगालियोंके साथ आया। भारतीय जनताने पुर्तगालियोंके दुर्व्यवहार देखे। जब अंग्रेज यहां शासक हो गये और ईसाइयत शासकोंका धर्म हो गयी, भारतीय जनताका चौकन्ना हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक था।

यह ठीक है कि महारानी विक्टोरियाकी घोषणाके पहले भी, अंग्रेज शासक ईसाई धर्म प्रचारकोंकी सहायता खुलकर नहीं करते थे।

परन्तु धर्म प्रचारक शासक जाति के थे, इसलिए जनतापर उनका रोब आपसे आप जम जाता था। यह सोचनेकी बात है कि भारतमें ईसाई धर्मका लगातार प्रचार सन् १५०० ई. से होता आया है। औरंगजेबके बाद से तो दिनों दिन भारत की राजनीतिक स्थिति बिगड़ती ही गयी और ईसाइयोंको घटते पानीमें मछली मारनेका काफी अवसर मिला। इतने पर भी जो लाभ उन्हें मिला वह नगण्य था। दो सौ सालके अँग्रेजी राज्यमें ईसाई धर्म प्रचारकोंने कोई बात उठा नहीं रखी। फिर भी, सारे भारतमें ईसाइयोंकी संख्या आज साठ लाखसे अधिक नहीं है और इनमें भी, प्रायः सबके सब ही वे लोग हैं जो हिन्दुत्वके अन्दर छोटी जातियोंमें गिने जाते अथवा जो आदिवासी और वन्य होनेके कारण प्रचलित हिन्दू-वृत्त से दूर थे। भारतमें धर्म-परिवर्तन, मुख्यतः, उन्हीं लोगोंने किया है जो हिन्दुत्वके भीतर अनादृत और त्रस्त थे।

एवी डुवोयने सन् १८१५ में धर्म-प्रचार-सम्बन्धी अपना जो अनुभव लिखा, उससे ज्ञात होता है कि तब तक भारतमें ईसाइयतकी फैलनेकी राह नहीं मिल रही थी। वह लिखता है कि - "मैंने आंसू तो बहुत बहाये, किन्तु, वे नंगे पत्थरोंपर पर गिरे हैं। जो लोग ईसाई हुए थे, उनमें से दो-तिहाई धर्मको छोड़कर अपने मूल-रूप में वापिस चले गये हैं। जो बाकी बचे हैं उनकी संख्या केवल ३३ हजार है। साठ सालसे हम प्रचार कर रहे हैं किन्तु उच्चवर्गीय हिन्दुओंपर हमारा तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा है। पिछले तीस वर्षों में, हमने केवल तीन सौ लोगोंका धर्म-परिवर्तन किया है, जिनमें दो सौ तो केवल अछूत हैं। हिन्दुओंका धर्म बदलना आसान नहीं है। इनके बीच प्रचलित किसी भी रिवाजको छूते ही सारी जनता विरोधमें खड़ी हो जाती है। जिस दिन सरकार इस काममें हाथ डालेगी, उसी दिन उसके राजनीतिक अस्तित्वका लोप हो जायगा।"

किन्तु हिन्दुत्वका यह अवरोध उसी समय तक था, जबकि अंग्रेज शासन भारतमें ठीकसे अपनी जड़ नहीं जमा सका था। जड़के जमते ही, बातें बदलने लगीं और ईसाई धर्म-प्रचारकोंका आगमन अधिकाधिक संख्यामें होने लगा। शासन खुलकर तो उनके साथ नहीं था, किन्तु वह

परन्तु धर्म प्रचारक शासक जाति के थे, इसलिए जनतापर उनका रोब आपसे आप जम जाता था। यह सोचनेकी बात है कि भारतमें ईसाई धर्मका लगातार प्रचार सन् १५०० ई. से होता आया है। औरंगजेबके बाद से तो दिनों दिन भारत की राजनीतिक स्थिति बिगड़ती ही गयी और ईसाइयोंको घटते पानीमें मछली मारनेका काफी अवसर मिला। इतने पर भी जो लाभ उन्हें मिला वह नगण्य था। दो सौ सालके अंग्रेजी राज्यमें ईसाई धर्म प्रचारकोंने कोई बात उठा नहीं रखी। फिर भी, सारे भारतमें ईसाइयोंकी संख्या आज साठ लाखसे अधिक नहीं है और इनमें भी, प्रायः सबके सब ही वे लोग हैं जो हिन्दुत्वके अन्दर छोटी जातियोंमें गिने जाते अथवा जो आदिवासी और वन्य होनेके कारण प्रचलित हिन्दू-वृत्त से दूर थे। भारतमें धर्म-परिवर्तन, मुख्यतः, उन्हीं लोगोंने किया है जो हिन्दुत्वके भीतर अनादृत और त्रस्त थे।

एवी डुबोयने सन् १८१५ में धर्म-प्रचार-सम्बन्धी अपना जो अनुभव लिखा, उससे ज्ञात होता है कि तब तक भारतमें ईसाइयतकी फैलनेकी राह नहीं मिल रही थी। वह लिखता है कि - "मैंने आंसू तो बहुत बहाये, किन्तु, वे नंगे पत्थरोंपर पर गिरे हैं। जो लोग ईसाई हुए थे, उनमें से दो-तिहाई धर्मको छोड़कर अपने मूल-रूप में वापिस चले गये हैं। जो बाकी बचे हैं उनकी संख्या केवल ३३ हजार है। साठ सालसे हम प्रचार कर रहे हैं किन्तु उच्चवर्गीय हिन्दुओंपर हमारा तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा है। पिछले तीस वर्षों में, हमने केवल तीन सौ लोगोंका धर्म-परिवर्तन किया है, जिनमें दो सौ तो केवल अछूत हैं। हिन्दुओंका धर्म बदलना आसान नहीं है। इनके बीच प्रचलित किसी भी रिवाजको छूते ही सारी जनता विरोधमें खड़ी हो जाती है। जिस दिन सरकार इस काममें हाथ डालेगी, उसी दिन उसके राजनीतिक अस्तित्वका लोप हो जायगा।"

किन्तु हिन्दुत्वका यह अवरोध उसी समय तक था, जबकि अंग्रेज शासन भारतमें ठीकसे अपनी जड़ नहीं जमा सका था। जड़के जमते ही, बातें बदलने लगीं और ईसाई धर्म-प्रचारकोंका आगमन अधिकाधिक संख्यामें होने लगा। शासन खुलकर तो उनके साथ नहीं था, किन्तु वह

काफी बचाव के साथ, उन्हें पूरा प्रोत्साहन दे रहा था। अंग्रेजोंको आशा थी कि भारत वर्ष एक-न-एक दिन अवश्य ईसाई हो जायगा।

धर्म प्रचारकोंपर जो प्रतिबन्ध था, वह सन् १८१३ ई. में उठा लिया गया, फिर तो सारा उत्तरी भारतवर्ष ईसाइयतके प्रहारोंके लक्ष्यमें आ गया। कैरी, डफ और विलसनके नेतृत्वमें सारा ईसाई पादरी समुदाय हिन्दू-समाजपर टूट पड़ा और इस बार वह अपना लक्ष्य उच्च वर्गीय हिन्दुओंको बनाने लगा। अतएव, बाइबिलके उपदेश और सड़कों और गलियों में भाषण, यह मामूली बात हो गयी। इसी कालमें मिशनरियोंने अनेक कालेजोंकी स्थापना की। कलकत्तेके बिशप कालेज और डफ कॉलेज, त्रिचिनापल्लीके विलसन और एस. पी. कालेज, ये सारी संस्थाएं इसी समयमें खुलीं, और शिक्षाके माध्यमसे ये ईसाई धर्मका प्रचार करने लगीं। इस आन्दोलन का प्रभाव ईसाइयोंके अनुकूल सिद्ध हुआ।

इन कालेजोंसे पढ़कर जो ग्रेजुएट निकले वे मैकालेके शब्दों में चमड़ी के काले और दिमागके गोरे थे।

हिन्दुत्व की ईसाइयतके प्रति नफरत क्यों?

हिन्दू धर्मकी एक बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दू धर्म रेजिमेंटेशन (जकड़बन्दी) से घृणा करता है। इस धर्मका दार्शनिक पक्ष अधिकसे अधिक उदारताको मनुष्यका उत्तम गुण मानता है। अपने विचारों के लिए उचितसे अधिक आग्रह करना, दूसरों के धर्म, मत या विचारका निर्ममतापूर्वक अनादर करना अथवा अपने विश्वासपर कट्टर होकर खड़ा रहना, ये बातें हिन्दुत्वके खिलाफ हैं। ईसाई धर्म-प्रचारक प्रचारके उत्साहमें आकर इस प्रकारके काम खूब करते थे। अतएव, यहांकी जनताका विश्वास उन्हें प्राप्त नहीं हो सका। चूंकि विदेशी-ईसाई प्रचारक समाजसे अलग रहते थे इसलिए जनताको उनके वैयक्तिक जीवनको देखनेका अवसर नहीं मिला। पर जो नये-नये देशी ईसाई बने उन्होंने अपने जीवनमें आचारका जो प्रमाण दिया वही आचार ईसाई पादरियोंका भी मान लिया गया और दोनोंके दोनों भोगवादी मानकर आंखोंसे उतार दिये गये।

गांगुली नामक एक बंगाली ब्राह्मण क्रिस्तान हो गया और धर्म प्रचारकों में उसका आदर भी यथेष्ट था। सन् १८६० उसने लिखा था कि "ईसाई धर्मके विषयमें हिन्दुओंका यह खयाल है कि ईसाई होनेके लिए यह आवश्यक है कि आदमी पहले अपने माता-पितासे दुर्व्यवहार करे। गाय और सूअरका मांस खाये तथा मदिराका पान करे। यह भी कि ईसाई होनेकी दूसरी शर्त यह है कि आदमी भी जानवरों के समान खानेके बाद मुंह नहीं धोये और उन सारी चीजोंसे घृणा करे जो हिन्दुत्वसे सम्बद्ध हैं, चाहे वे सुन्दर और उपयोगी की क्यों न हों ?"

ईसाइयतके, अँग्रेजोंके प्रताप कालमें भी, भारतमें पूरी तरह न पनपनेका एक बड़ा कारण यह भी था कि वह भारतीयताका वरण करने में असमर्थ रही। ईसाई धर्म इस देशको यूरोप बनाना चाहता था। सन् १९३१ ई. में प्रोफेसर शेषाद्रिने एक बार कहा था कि भारतीय ईसाई, ईसाई होते हुए ही मांस खाना, हैट पहनना, शराब पीना और भारतीयताकी द्योतक प्रत्येक वस्तुसे अपने आपको अलग रखना आवश्यक समझने लगते हैं।

गांधीजी भी यही समझते थे कि जो आदमी ईसाई बनना चाहता हो उसे गोमांस खाना, शराब पीना और यूरोपीय लिबास पहनना ही पड़ेगा। केशवचन्द्र सेन ब्रह्म समाजी थे। किन्तु, विचारों में वे सोलह नहीं तो बारह आना क्रिस्तान अवश्य थे। किन्तु, उन्हें भी ईसायतका यह पाश्चात्य रूप खटकता था। उन्होंने एक बार कहा था कि - "लगता यह है कि ईसा हम लोगोंके बीच अंग्रेज बनकर आये हैं। उनके रंग-ढंग और तौर तरीके अंग्रेजी हैं। उनका मिजाज और उनकी आत्मा भी अंग्रेजोंका मिजाज और अंग्रजोंकी आत्मा है। इसीलिए हिन्दू उनसे बिदकते हैं। यदि आप ईसा को हमारे भीतर लाना ही चाहते हैं तो उन्हें सुसभ्य, यूरोपीय व्यक्ति बनाकर मत लाइये। बल्कि, उन्हें एशियाके सन्तके रूपमें यहां भेजिये जिसकी सारी पूंजी उसकी समाधि और जिसका सारा धन उसकी प्रार्थना में है।"

हिन्दू समाज के मनमें ईसाइयतके प्रति ये घृणाके भाव इसीलिए पैदा

गांगुली नामक एक बंगाली ब्राह्मण क्रिस्तान हो गया और धर्म प्रचारकों में उसका आदर भी यथेष्ट था। सन् १८६० उसने लिखा था कि **"ईसाई धर्मके विषयमें हिन्दुओंका यह खयाल है कि ईसाई होनेके लिए यह आवश्यक है कि आदमी पहले अपने माता-पितासे दुर्व्यवहार करे। गाय और सूअरका मांस खाये तथा मदिराका पान करे। यह भी कि ईसाई होनेकी दूसरी शर्त यह है कि आदमी भी जानवरों के समान खानेके बाद मुंह नहीं धोये और उन सारी चीजोंसे घृणा करे जो हिन्दुत्वसे सम्बद्ध हैं, चाहे वे सुन्दर और उपयोगी की क्यों न हों ?"**

ईसाइयतके, अंग्रेजोंके प्रताप कालमें भी, भारतमें पूरी तरह न पनपनेका एक बड़ा कारण यह भी था कि वह भारतीयताका वरण करने में असमर्थ रही। ईसाई धर्म इस देशको यूरोप बनाना चाहता था। सन् १९३१ ई. मैं प्रोफेसर शेशाद्रिने एक बार कहा था कि भारतीय ईसाई, ईसाई होते हुए ही मांस खाना, हैट पहनना, शराब पीना और भारतीयताकी द्योतक प्रत्येक वस्तुसे अपने आपको अलग रखना आवश्यक समझने लगते हैं।

गांधीजी भी यही समझते थे कि जो आदमी ईसाई बनना चाहता हो उसे गोमांस खाना, शराब पीना और यूरोपीय लिबास पहनना ही पड़ेगा। केशवचन्द्र सेन ब्रह्म समाजी थे। किन्तु, विचारों में वे सोलह नहीं तो बारह आना क्रिस्तान अवश्य थे। किन्तु, उन्हें भी ईसायतका यह पाश्चात्य रूप खटकता था। उन्होंने एक बार कहा था कि - "लगता यह है कि ईसा हम लोगोंके बीच अंग्रेज बनकर आये हैं। उनके रंग-ढंग और तौर तरीके अंग्रेजी हैं। उनका मिजाज और उनकी आत्मा भी अंग्रेजोंका मिजाज और अंग्रजोंकी आत्मा है। इसीलिए हिन्दू उनसे विदकते हैं। यदि आप ईसा को हमारे भीतर लाना ही चाहते हैं तो उन्हें सुसभ्य, यूरोपीय व्यक्ति बनाकर मत लाइये। बल्कि, उन्हें एशियाके सन्तके रूपमें यहां भेजिये जिसकी सारी पूंजी उसकी समाधि और जिसका सारा धन उसकी प्रार्थना में है।"

हिन्दू समाज के मनमें ईसाइयतके प्रति ये घृणाके भाव इसीलिए पैदा

हुए कि उसने देखा कि जो भी हिन्दू-युवक ईसाई बनता था, वह लिबास और विचारसे अंग्रेज बन जाता था और भारतीयताकी द्योतक प्रत्येक वस्तुसे घृणा करने लगता था।

नई शिक्षा आवश्यक थी क्योंकि रोजी अब हिन्दी या फारसी नहीं, अंग्रेजी पढ़कर ही कमाई जा सकती थी। किन्तु अंग्रेजीका प्रभाव हिन्दुत्वके लिए घातक होता जा रहा था। बाहर मिशनरी थे जो पुस्तकें छाप-छापकर, अखबार निकालकर और सड़कों, गलियों, कचहरियों, बाजारों और स्कूलों तथा कालेजोंमें भाषण देकर निर्भीकतापूर्वक हिन्दू-धर्मकी धज्जियां उड़ा रहे थे। और इधर घरों में नये रोशनी में पले हुए शिक्षित हिन्दू-युवक हिन्दुत्वको ही सैकड़ों प्रकारसे अपमानित करके अपने समाजकी छाती कुरेद रहा था।

राजा ईसाई, प्रचारक ईसाई, शिक्षा ईसाई, शिक्षक ईसाई और शिक्षतोंपर ईसाइयतका दिनों दिन बढ़ता हुआ प्रभाव! धर्म एक बार फिर महाविपत्तिके घेरेमें था और आस्तिकोंके मनमें भगवानकी यह वाणी गूंज रही थी –

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्।

हिन्दुत्वका नव उत्थान :

जबकि ईसाइयतकी ओरसे हिन्दुत्वपर जबर्दस्त प्रहार किये जा रहे थे, भगवानकी कृपासे भारतमें कुछ ऐसे सुधारक पैदा हुए जिन्होंने इस प्रवाहको एकदम बदल नहीं दिया तो कमसे कम रोक अवश्य दिया।

भारतमें ईसाइयतका प्रचार, ईसाइयों के द्वारा भारतीय धर्मोंकी निन्दा, यूरोपके क्रान्तिकारी बुद्धिवादी विचार और अंग्रेजी पढ़े लिखे हिन्दुओं द्वारा हिन्दुत्वकी भर्त्सना, ये कतिपय कारण थे जिनसे हिन्दुत्व की नींद टूटी। उसकी पहली अँगड़ाई ब्रह्म-समाजमें प्रकट हुई। और उसके नवोत्थानके आदि पुरुष राजाराममोहन राय हुए।

ब्रह्म समाज और राजा राममोहन राय :

राजा राममोहन राय साधककी अपेक्षा राजनीतिज्ञ और सामाजिक

नेता अधिक थे। इसलिए धर्मके अध्ययन और विश्लेषणसे उन्होंने वह शक्ति निकालनी चाही, जिससे हिन्दू क्रिस्तान होनेसे बच सकते थे। राम मोहनराय का दिल पढ़े-लिखे हिन्दुओंको अपना धर्म परित्याग करते देखकर तड़प उठा। ईसाई पादरी हिन्दू धर्मकी जिस प्रकार छीछालेदर कर रहे थे, उससे राममोहन राय अत्यन्त दुःखी थे। किन्तु ईसाई धर्म-प्रचारकोंके दुष्प्रचारोंके वे जितने विरोधी थे, उससे कहीं कठोर आलोचक वे अपने धर्म और समाजके थे। हिन्दू धर्मको रूढ़ियोंसे मुक्त करके वे उसे एक नया रूप देना चाहते थे। कभी-कभी लोग यह कह बैठते हैं कि राम मोहनराय पूरे भारतीय नहीं थे। वे ईसाई पादरियों के प्रहारोंसे भीत होकर हिन्दू-धर्मका ईसाई अनुवाद प्रस्तुत करना चाहते थे जिससे कि ईसाइयोंकी आलोचना बन्द हो जाय और हिन्दू जनता क्रिस्तान नहीं बने। यह निरी भ्रमपूर्ण बात है। वास्तवमें ब्रह्मसमाज को ईसाइयतकी और केशवचन्द्र सेनने मोड़ा। सन् १८२० से २८२३ तक उनका विवाद ईसाई पादरियोंसे भी चला था और इसी सिलसिलेमें, उन्होंनें ईसाई धर्मपर एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम. The Precept of Jesus, the Guide to peace and happiness" यह था। इस ग्रंथमें उन्होंनें ईसाकी विवेकपूर्ण शिक्षाओंको उनके व्यक्तित्वके चमत्कार वाले अंशोंसे अलग करके दिखाया था। इस ग्रंथको देखकर सिरामपुराके पादरी नाराज हो गये और उसके लेखकको उन्होंनें मूर्तिपूजक अथवा नास्तिक कह डाला। इसपर राम मोहन रायने "ईसाई जनतासे अपील" शीर्षकके अन्दर तीन लेख लिखे और यह सिद्ध कर दिखाया कि ईसा ईश्वरके पुत्र नहीं थे, न ईसाइयोंका ईश्वर त्रय वाला सिद्धान्त (फादर, सन एण्ड दि होली घोष) ही ठीक है। उन्होंने ईसाइयोंके इस सिद्धान्त पर भी शंकाकी कि पश्चात्ताप करनेसे मनुष्य सारे पापोंसे छूट जाता है। इन निबधोंमें राममोहनने बाइबिल तथा ईसाई पुराणोंका ऐसा गहरा ज्ञान प्रदर्शित किया कि ईश्वर-त्रयमें विश्वास करनेवाला एक ईसाई पादरी अपना धर्म छोड़कर एकेश्वर शाखा (यूनिटेरियन) में चला आया।

उन्होंने अनुभव किया कि अन्य धर्मोंके समान-ईसाई धर्ममें भी

पौराणिक बातें थीं, रूढ़ियों, चमत्कारकी कहानियों और अन्धविश्वासों का ढेर था। किन्तु, उनका यह भी मत था कि हिन्दुत्वका कोई भी ऐसा रूप मान्य नहीं रहना चाहिए जो विज्ञान और बुद्धिवादकी कसोटीपर खरा नहीं उतरता हो। इस प्रकार राम मोहन राय हिन्दुत्वके उस पक्षका आख्यान करने लगे, जिसमें मूर्तिपूजा नहीं थी, अवतारवाद नहीं था और न जिसमें मन्दिर और तीर्थोंकी ही कोई बात थी। तदनुसार २० अगस्त सन् १८२८ ई. को उन्होंने ब्राह्मोसमाजकी स्थापना की।

समाजकी स्थापनाके केवल दो वर्ष बाद, राममोहन राय विलायत गये, जहांसे वे फिर नहीं लोटे। २७ सितम्बर, १८३३ को ब्रिस्टलमें उनका देहान्त हो गया।

राजा राममोहन रायकी मृत्युके बाद, ब्राह्मोसमाजके नेतृत्वका भार महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरके कन्धोंपर पड़ा। महर्षि देवेन्द्रनाथकी यूरोप से आनेंवाले बुद्धिवादपर अपार भक्ति थी और हिन्दुत्वके रूढ़िवादी रूपसे लज्जित होकर वे भी अपने धर्मका बुद्धि सम्मत रूप संसारके सामने रखना चाहते थे। राममोहन रायके भी निश्चित रूपसे ऐसे ही भाव थे। किन्तु, उनकी विशेषता यह थी कि वेद और उपनिषदोंपर उनका अटल विश्वास था एवं किसी भी अवस्थामें वे वेदोंपर अविश्वास करनेको तैयार न थे। राममोहन रायने ब्राह्मोसमाजकी स्थापना इसीलिए की थी कि वे हिन्दू-धर्मके मौलिक (वेद सम्मत) रूपको ईसायतकी महफिलमें प्रतिष्ठाके साथ स्थापित करना चाहते थे जिससे कि ईसाई लोग भी यह जान जांय कि हिन्दुत्वका मूल रूप ऐसा नहीं है, जिसकी हंसी उड़ायी जा सके।

किन्तु महर्षि देवेन्द्रनाथके समयमें आकर ब्राह्मो-समाज अपनी जड़, हिन्दुत्वसे दूर जाने लगा। और केशवचन्द्रके समयमें तो वह हिन्दुत्वसे इतना अलग और ईसाइयतके इतना समीप जा पहुंचा कि लोगोंको यह भ्रम हो गया कि यह और कुछ नहीं, सम्पूर्ण हिन्दू समाजको एक साथ ईसाइयतमें लीन करनेका आयोजनमात्र है। महर्षि देवेन्द्र नाथ हिन्दू थे, वे ब्रह्मसमाजको भी हिन्दू-संस्था ही रखना चाहते थे, किन्तु, केशवचन्द्र, ईसाके परम भक्त थे और हिन्दू धर्मको भी वे ईसाइयतकी दिशामें ले जाना चाहते थे।

अन्तमें गुरु-महर्षि देवेन्द्रनाथ और शिष्य केशवचन्द्र सेनमें मतभेद हो गया। केशवचन्द्रसेनने अपना समाज अलग कर लिया जिसका नाम ब्रह्मसमाज ही बना रहा। देवेन्द्रनाथ ठाकुरके अधिकारमें जो समाज रह गया, उसे वे आदि ब्रह्म समाज कहने लगे।

प्रार्थना समाज :

सन् १८६४ में केशवचन्द्र सेन बम्बई गये और वहां उन्होंने ब्रह्म-समाजकी शाखा खोलनी चाही। उनके प्रभावसे बम्बईमें ब्रह्म-समाजकी शाखा प्रार्थनासमाजके नामसे खुली। महाराष्ट्रमें इस आन्दोलनका श्रीगणेश महादेव गोविन्द रानाडे ने किया। वे उत्कट सुधार-वादी थे एवं रूढ़ियोंको मिटाकर वे हिन्दुत्वका निर्मल रूप प्रस्तुत करना चाहते थे। किन्तु ब्रह्मसमाज की तरह प्रार्थना समाजके धार्मिक सिद्धान्तोंको भी इस देशकी जनताने पसन्द नहीं किया।

आर्य समाज और महर्षि दयानन्द :

सत्यार्थ प्रकाशके ग्यारहवें समुल्लासमें स्वामी दयानन्दने ब्रह्म-समाज और प्रार्थना समाजके विषयमें निम्नलिखित बातें लिखी हैं : "जो कुछ ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाजियोंने ईसाई मतमें मिलनेसे थोड़े मनुष्योंको बचाया और कुछ-कुछ पाषाणादि मूर्तिपूजाको हटाया, अन्य जाल ग्रन्थोंके फन्दोंसे भी बचाया, इत्यादि अच्छी बातें हैं। परन्तु, इन लोगोंमें स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयोंके आचरण बहुतसे लिए हैं। खानपान विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं। अपने देशकी प्रशंसा और पूर्वजोंकी बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके बदले भरपेट निन्दा करते हैं। व्याख्यानोंमें ईसाई आदि अंग्रेजोंकी प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मा आदि महर्षियोंका नाम भी नहीं लेते। प्रत्युत, ऐसा कहते हैं कि बिना अंग्रेजोंके सृष्टिमें आज पर्यन्त कोई विद्वान नहीं हुआ।"

केशवचन्द्र और रानाडेकी तुलनामें महर्षि दयानन्द वैसे ही दीखते हैं जैसे गोखलेकी तुलनामें तिलक। जैसे राजनीतिक क्षेत्रमें हमारी राष्ट्रीयता का सामरिक तेज पहले पहल तिलकमें प्रत्यक्ष हुआ। वैसे ही संस्कृतिके क्षेत्रमें भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्दमें निखरा।

ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाजके नेता अपने धर्म और समाजमें सुधार तो ला रहे थे, किन्तु, उन्हें बराबर यह खेद सता रहा था कि हम जो कुछ कर रहे हैं, वह विदेशकी नकल है। अपनी हीनता और विदेशियोंकी श्रेष्ठताके ज्ञानसे उनकी आत्मा कहीं न कहीं दबी हुई थी। अतएव, कार्य तो, प्रायः उनके भी वैसे ही रहे, जैसे स्वामी दयानन्दके किन्तु, आत्महीनताके भावसे अवगत रहनेके कारण वे अभिमानपूर्वक नहीं बोल सके।

यह अभिमान स्वामी दयानन्दमें चमका। रूढ़ियों और गतानु-गतिकता में फंसकर अपना विनाश करनेके कारण उन्होंने भारतवासियों की कड़ी निन्दा की और उनसे कहा कि तुम्हारा धर्म पौराणिक संस्कारोंकी धूलमें छिप गया है। इन संस्कारोंकी गन्दी पर्तोको तोड़ फेंको। तुम्हारा सच्चा धर्म वैदिक धर्म है, जिसपर आरूढ़ होनेसे तुम फिरसे विश्वविजयी हो सकते हो। किन्तु, इससे भी कड़ी फटकार उन्होंने ईसाइयोंपर और मुसलमानोंपर भेजी, जो दिन दहाड़े हिन्दुत्वकी निन्दा करते फिरते थे। ईसाई और मुस्लिम पुराणोंमें घुसकर उन्होंने इन धर्मोंमें भी वैसे ही दोष दिखला दिये, जिनके कारण ईसाई और मुस्लिम हिन्दुत्वकी निन्दा करते थे।

इससे दो बातें निकलीं। एक तो यह कि अपनी निन्दा सुनकर घबराई हुई हिन्दु जनताको यह जानकर कुछ सन्तोष हुआ कि पौराणिकता के मामलेमें ईसाइयत और इस्लाम भी हिन्दुत्वसे अच्छे नहीं हैं। दूसरी यह कि हिन्दुओंका ध्यान अपने धर्मके मूल रूपकी ओर आकृष्ट हुआ एवं वे अपनी प्राचीन परम्पराके लिए गौरव अनुभव करने लगे।

ईसाइयोंसे आक्रमणात्मक युद्ध :

राम मोहन राय और रानाडे ने ईसाइयोंसे जो लड़ाई लड़ी वह रक्षात्मक थी। स्वामी दयानन्दने रक्षात्मकके साथ-साथ आक्रमणा-त्मक युद्धका भी श्रीगणेश कर दिया क्योंकि वास्तविक रक्षाका उपाय

तो आक्रमणकी ही नीति है। अब तक हिन्दुत्वकी निन्दा करनेवाले लोग निश्चिन्त थे कि हिन्दु अपना सुधार भले ही करता हो, किन्तु, बदलेमें हमारी निन्दा करनेका उसे साहस नहीं होगा। किन्तु, इस मेधावी एवं योद्धा संन्यासीने उनकी आशापर पानी फेर दिया। यही नहीं, प्रत्युत, जो बात राममोहन, केशवचन्द्र और रानाडेके ध्यानमें भी नहीं आयी थी, उस बातको लेकर स्वामी दयानन्दके शिष्य आगे बढ़े और उन्होंने घोषणा कर दी कि **धर्मच्युत हिन्दू प्रत्येक अवस्थामें अपने धर्ममें वापस आ सकता है। एवं अहिन्दू भी यदि चाहें तो हिन्दू धर्ममें प्रवेश पा सकते हैं।** यह केवल सुधारकी वाणी ही नहीं थी, अपितु जागृत हिन्दुत्वका समरनाद था। और सत्य ही, रणारूढ़ हिन्दुत्वके जैसे निर्भीक नेता स्वामी दयानंद हुए, वैसा और कोई नहीं हुआ। लोगोंकी यह धारणा सत्य नहीं है कि स्वामी दयानन्द मुसलमानों या ईसाइयोंके विरोधी थे। स्वामीजीने सत्यार्थ प्रकाशमें जहां इन दोनों सम्प्रदायोंका डटकर खण्डन किया है वहां अन्य समुल्लासोंमें हिन्दुत्वके विभिन्न अंगोंकी भी बखिया उधेड़ी है। कबीर, दादू, नानक, बुद्ध चार्वाक जैन एवं हिन्दुओंके अनेक पूज्य पौराणिक देवताओंमें से एक भी बेदाग नहीं छूटा है। किन्तु यह सब अवश्यम्भावी था। यूरोपके बुद्धिवादने भारतको इस प्रकार झकझोर डाला था कि हिन्दुत्वके बुद्धिसम्मत रूपको आगे लाये बिना कोई भी सुधारक भारतीय संस्कृतिकी रक्षा नहीं कर सकता था। स्वामीजीने बुद्धिवादकी कसौटी बनायी और उसे हिन्दुत्व, इस्लाम, ईसाइयत पर निश्छल भाव से लागू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पौराणिक हिन्दुत्व तो इस कसौटीपर खण्ड खण्ड हो हीगया, इस्लाम और ईसाइयत की भी सेकड़ों कमजोरियां लोगोंके सामने आ गयीं।

स्वामी दयानन्द विश्व-मानवताके नेता थे :

चूंकि ईसाइयत और इस्लाम हिन्दुत्वपर आक्रमण करते थे, इसलिए, हिन्दुत्वकी ओरसे बोलनेवाला प्रत्येक व्यक्ति ईसाइयत या इस्लाम दोनोंका द्रोही समझ लिया गया किन्तु इस प्रसंगसे अलग हटनेपर

स्वामी दयानन्द विश्व मानवताके नेता दीखते हैं। उनका उद्देश्य सभी मनुष्योंको उस ओर ले जाना था, जिसे वे सत्यकी दिशा समझते थे। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाशकी भूमिकामें यही बात लिखी है कि मैंने जहां भी बुराई देखी, उसका खण्डन किया है चाहे वह आर्यावर्तीय धर्मोंकी हो और चाहे दूसरे देशके मतोंकी हो।

उन्नीसवीं सदीका इतिहास बताता है कि जब यूरोप वाले भारतमें आये तब यहांके धर्म और संस्कृतिपर रूढ़िकी पर्तें जमी हुई थीं। यूरोपके मुकाबलेमें उठनेके लिए यह आवश्यक हो गया था कि पर्तें एकदम उखाड़ फेंकी जायं और हिन्दुत्वका वह रूप प्रकट किया जाय, जो निर्मल और बुद्धिगम्य हो। स्वामीजीके मतसे यह हिन्दुत्व वैदिकहिन्दुत्व ही हो सकता था। किन्तु, यह हिन्दुत्व पौराणिक कल्पनाओंके नीचे दबा हुआ था। उसपर अनेक रूढ़ियोंकी धूल जम गयी थी। एवं वेदके बाद के सहस्त्रों वर्षोंमें हिन्दुओंने जो रूढ़ियां और अन्धविश्वास अर्जित किये थे, उनके ढूहोंके नीचे यह धर्म दबा पड़ा था। राममोहन राय, रानाडे, केशवचन्द्र और तिलकसे भिन्न स्वामी दयानन्दकी विशेषता यह रही कि उन्होंने धीरे–धीरे पपड़ियां तोड़नेका काम न करके उन्हें एक ही चोटसे साफ कर दिया। परिवर्तन जब धीरे-धीरे आता है, तब वह सुधार कहलाता है किन्तु वही जब तीव्र वेगसे पहुंचता है तब उसे क्रान्ति कहते हैं। दयानन्दके समकालीन अन्य सुधारक, सुधारक मात्र थे, किन्तु, दयानन्द क्रान्तिके वेगसे आये और उन्होंने निश्छल भावसे यह घोषणा कर दी कि हिन्दू धर्म ग्रंथोंमें केवल वेद ही मान्य हैं। अन्य शास्त्रों और पुराणोंकी बातें बुद्धिकी कसौटीपर कसे बिना मानी नहीं जानी चाहिए। छः शास्त्रों और अठारह पुराणोंको उन्होंने एक ही झटकेमें साफ कर दिया। वेदोंमें मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थों और अनेक पौराणिक अनुष्ठानोंका समर्थन नहीं था, अतएव स्वामीजी ने इन सारे कृत्यों और विश्वासोंको गलत घोषित कर दिया।

स्वामीजीने बहुत प्रयत्न किया कि सब सुधारक संस्थाएं मिलकर

एक हो जायं। १८७२ में स्वामीजीनें कलकत्ता पधारनेपर देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेनने उनका बड़ा सत्कार किया। ब्रह्मसमाजियोंसे उनका विचारविमर्श भी हुआ। किन्तु, ईसाइयतसे प्रभावित ब्रह्मसमाजी विद्वान पुनर्जन्म और वेदकी प्रामाणिकताके विषयमें स्वामीजीसे सहमत नहीं हो सके। जब थियोसोफिस्ट लोग भारत आये, तब थोड़े दिन उन लोगोंने भी आर्य समाजसे मिलकर काम किया, किन्तु उनकी बहुत सी बातें स्वामीजीके सिद्धान्तोंके विपरीत पड़ती थीं अतएव वे लोग भी आर्य समाजसे अलग हो गये। किन्तु अलग होनेपर भी स्वामीजीपर थियोसोफिस्टों की भक्ति ज्योंकी त्यों बनी रही।

मादाम ब्लेवास्कीकी स्वामीजीके बारेमें सम्मति :

स्वामीजीके देहावसानके बाद मादाम ब्लेवास्कीने, लिखा था, "जन समूहके उबलते हुए क्रोधके सामने कोई संगममर की मूर्ति भी स्वामीजीसे अधिक अडिग नहीं हो सकती थी। एक बार हमने उन्हें काम करते देखा था। उन्होंने अपने सभी विश्वासी अनुयायियोंको, यह कहकर अलग हटा दिया कि तुम्हें हमारी रक्षा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। भीड़के सामने वे अकेले ही खड़े हो गये। लोग उतावले हो रहे थे, क्रुद्ध सिंहके समान वे स्वामीजीपर टूट पड़नेको तैयार थे। किन्तु स्वामिजी की धीरता ज्योंकी त्यों बनी रही। यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्यके बाद भारतमें कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जो स्वामीजी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता और कुरीतियोंपर टुट पड़नेमें उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामीजी द्वारा संस्थापित आर्य समाज हिन्दुत्वकी खड्गधर बाँह साबित हुआ। ईसाइयत और इस्लामके आक्रमणों से हिन्दुत्वकी रक्षा करनेमें जितनी मुसीबतें आर्यसमाजने झेली हैं, उतनी किसी और संस्थाने नहीं। सच पूछिये तो उत्तर

भारतमें हिन्दुओंको जगाकर उन्हें प्रगतिशील करनेका सारा श्रेय आर्य-समाज को ही है।

पं. चमूपतिने सत्य ही कहा है कि "आर्यसमाजके जन्मके समय हिन्दू कोरा फुसफुसियाजीव था। उसके मेरुदण्ड की हड्डी थी ही नहीं। चाहे कोई उसे गाली दे, उसकी हंसी उड़ाये, उसके देवताओंकी भर्त्सना करे या उसके धर्म पर कीचड़ उछाले, जिसे वह सदियोंसे मानता आ रहा है, फिर भी इस सारे अपमानोंके सामने वह दांत निपोरकर रह जाता था। लोगोंको यह उचित शंका हो सकती थी कि यह आदमी भी है या नहीं, इसे आवेश भी चढ़ता है या नहीं अथवा गुस्सेमें आकर प्रतिपक्षी की ओर घूर भी सकता है या नहीं। किन्तु, आर्यसमाजके उदयके बाद, अविचल उदासीनताकी यह मनोवृत्ति विदा हो गयी। हिन्दुओंका धर्म एक बार फिर जगमगा उठा है। आजका हिन्दू अपने धर्मकी निन्दा सुनकर चुप नहीं रह सकता, जरूरत पड़े तो धर्म रक्षार्थ वह अपने प्राण भी दे सकता है।"

आचार्य चमूपति आर्य

डॉ. वैदिक पुस्तकालय मुम्बई

सम्पर्क - 9869128779.

Published by H. H. Goswami Dixitji Maharaj, President, Eucharistic Congress Virodhi Nagarik Samiti, 1st Floor, 32/34 Veer Nariman Road, Bombay-1. Printed by Dhirubhai Desai at States' People Press, Fort, Bombay-1.